



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से, मुमुक्षु की भूमिका सम्बन्धित
पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

(आत्मा के लिए :) रुचि की आवश्यकता चाहिए। दरकार होनी चाहिए। (विकल्पों से) थकावट होनी चाहिए। तीव्र प्यास (तालवेली) लगे, तो ढूँढ़े ही। ८५.

प्रश्न :- रुचि बढ़ते-बढ़ते वस्तु की महत्ता बढ़ती जाती है और सुगमता भी ज्यादा भासती है?

उत्तर :- रुचि बढ़ती है, ऐसे (पर्याय के) लक्ष्य में भी पर्याय की महत्ता होती है, उसमें (पर्याय में) 'मैं-पना' (अहम्पना) दिखता है तो त्रिकाली में नहीं जम सकते। यह तो विकल्पवाली रुचि है। 'मैं तो परिणाम मात्र से भिन्न हूँ' — ऐसे त्रिकाली का अनुभव होना, वो ही अभेद की रुचि है। ८७.

प्रश्न :- रुचि क्यों नहीं होती?

उत्तर :- ज़रूरत दिखे, तो अंदर में आए बिना रहे ही नहीं। सुनते हैं (उसमें) प्रसन्नता आदि होती है, लेकिन सुख की ज़रूरत हो तो अंदर आवे। ज़रूरत न हो तो वहाँ (प्रसन्नता आदि में) ही ठीक माने। लाभ है, नुकसान तो नहीं न! (-ऐसा भाव रह जाता है।) ११७.

यथार्थ रुचि हो तो काल लगे ही नहीं, रात-दिन, खाते-पीते-सोते उसके ही पीछे पड़े। २३९.

जितनी धगश उग्र... उतनी जल्दी कार्य होता है। ३११.

(स्वरूप की) ऐसी रुचि होनी चाहिए कि उसके बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ३३१.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४८: अंक-२९०, वर्ष-२४, फरवरी-२०२२

आषाढ़ कृष्ण १२, शुक्रवार, दि. १५-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-८९, प्रवचन-३५

८९। 'सम्यग्दृष्टि का श्रेष्ठ कर्तव्य।' वस्तु ऐसी ही है। हीरे को कहीं थैली में रखते हैं? यह बोरी... बोरी होती है न? चावल की बोरी... उसमें हीरा रखते हैं? बोरी में हीरा रखते हैं? हीरा तो बड़ी मखमल की डिब्बी में रखते हैं। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम माता-पिता हो वहाँ जाता है। डिब्बी ऐसी होती है, यह सहज पुण्य का स्वभाव है। समझ में आया? लालच देने की बात नहीं है, उसका पुण्य भी लोकोत्तर पुण्य है। सम्यग्दर्शन के बाद जन्म लिया... समझ में आया?

श्रीमद् एक पत्र में लिखते हैं, यह देह यदि पहले नहीं मिला हो तो अब बाद में यह देह मुझे नहीं मिलेगा, यह देह नहीं मिलेगा, दूसरा ऐसा नया देह मिलेगा कि पूर्व में अनन्त काल में नहीं मिला होगा! सम्यक्त्व की भूमिका में जो विकल्प आया और पुण्य बाँधा - ऐसा अनन्त काल में नहीं बाँधा था। समझ में आया? वह जाति अलग है, शरीर के रजकणों की जाति ही अलग हो जाती है। जैसे भगवान को परम औदारिक हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जाये, वहाँ अनन्त काल में ऐसा सम्यक्भाव में, भूमिका में उसने ऐसा पुण्य कभी नहीं बाँधा था। उस भूमिका में ऐसा पुण्य बाँधता है कि उसके फलरूप ऐसा शरीर मिलता है कि निरोग, सुन्दर,

आदि सब (होता है)। यह वस्तु स्वरूप है। समझ में आया? पुण्य-पाप की स्थिति घटती है। पाप का रस घटता है, पुण्य का रस बढ़ता है। क्या (कहा)? सम्यग्दृष्टि को पुण्य का रस बढ़ता है। पाप की स्थिति घटती है, पुण्य की स्थिति भले घटे, रस (अनुभाग) नहीं घटता; अनुभाग तो बढ़ता जाता है। जैसे ज्ञान बढ़ता जाये, वैसे उसका रस बढ़ जाता है। पूरा हो जाये तो छूट जाता है। समझ में आया? यह शास्त्र का कथन है, यह वस्तु का स्वरूप है - ऐसा बताते हैं।

अप्प-सरूवहँ जो रमइ, छंडिवि सहु ववहारू।
सो सम्माइड्डी हवइ लहु पावइ भवपारू।
८९।।

लो, अद्भुत... भाई! 'जो सर्व व्यवहार को छोड़कर...' सर्व व्यवहार का अर्थ - भगवान की श्रद्धा, रागादि का विकल्प यह भी व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह व्यवहार है। 'सर्व व्यवहार को छोड़कर...' आहा...हा...!

मुमुक्षु : व्यवहार से तो मुक्त है न?

उत्तर : मुक्त ही है, सम्यक्त्व में स्वभाव की एकताबुद्धि हुई तो राग से मुक्त है। राग है अवश्य (परन्तु) स्वभाव में नहीं है, दृष्टि में नहीं है, दृष्टि के विषय में नहीं है; वह (व्यवहार) तो पर विषय हो गया। व्यवहार है अवश्य परन्तु जैसे परद्रव्य है, वैसे ज्ञानी को

व्यवहार परद्रव्यरूप है। समझ में आया? आहा...हा...!

‘सर्व व्यवहार को छोड़कर अपने आत्मा के स्वरूप में रमणता करता है।’ भगवान आत्मा...!

समझ में आया? अपने शुद्ध प्रभु की ओर का अन्तर झुकाव है, जहाँ अनन्तानन्त गुण का पिण्ड प्रभु... अनन्तानन्त गुण! ओ...हो...! जो तीन काल के समय की अपेक्षा अनन्तानन्त गुण पड़े हैं, ऐसा प्रभु तीन काल को ग्रास कर गया। ओहो...हो...! समझ में आया? ऐसा अनन्तानन्त गुण का पिण्ड आत्मा, उसके अनुभव

से... समझ में आया? वह सम्यग्दृष्टि (उसमें) रमण करता है और अब ‘शीघ्र ही संसार से पार हो जाता है।’ उदय को पार कर देता है, अपनी पूर्ण (वस्तु) प्राप्त करके उदय का अभाव कर डालता है। समझ में आया?

‘जिसे निर्वाण ही एक ग्रहण योग्य पद दिखता है...’ पूर्ण शुद्ध जो ध्येय में है, वही ग्रहण करने योग्य दिखता है। ‘चारों गतियों की सर्व कर्मजनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है। जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की प्राप्ति को परम लाभ समझता है।’ अपनी शुद्धि की वृद्धि को ही परम लाभ समझता है। आहा...हा...! बाहर में चक्रवर्ती का पद मिला तो लाभ हुआ - ऐसा समकिति नहीं मानता। अपने अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द पड़े हैं, उसमें से शुद्धि की वृद्धि हो, वही मेरा लाभ है, वही मेरा लाभ है। लाभ सवाया, तुम्हारे लिखते हैं न? बनिये लिखते हैं, लाभ सवाया। वह लाभ किसका? धूल का-पैसा का? हैं! मलूकचन्दभाई! क्या है?

यहाँ तो लाभ सवाया, लाभ दुगना, लाभ तिगुना, लाभ अनन्त गुना... आहा...हा...! भगवान के घर कहाँ कमी है? तो अनन्त गुणा प्राप्त न करे? पूर्णानन्द

प्रभु है, आहा...हा...! जहाँ अपने स्वरूप की निःशंक दृष्टि हो गयी (तो वह) मोक्ष के मार्ग में चला। अल्प काल में मोक्ष (जायेगा)। संसार-फंसार है ही नहीं।

भगवान को पूछना नहीं पड़ता कि महाराज! हमारे कितने भव हैं? अरे...! चल... चल! तुझे शंका है तो भगवान जानते हैं कि शंका है। तू निःशंक है तो भगवान जानते हैं कि तू निःशंक है। भगवान तुझे कर देते हैं? समझ में आया? ‘जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा, अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा...’ तेरी दृष्टि स्वभाव पर पड़कर

यदि शुद्धि की वृद्धि हुई (तो) भगवान ऐसा देखते हैं, भगवान ऐसा देखते हैं। समझ में आया? ‘परम लाभ समझता है।’

‘मैं सर्व सिद्ध समान शुद्ध हूँ।’ मैं सर्व शुद्ध, सर्व शुद्ध का अर्थ थोड़ा शुद्ध - ऐसा नहीं। मैं वस्तु हूँ, वह तो सर्व शुद्ध है और दृष्टि का विषय द्रव्य है। इस दृष्टि ने सर्व शुद्ध को ही स्वीकार किया है, समझ में आया? सिद्धसम। ‘सिद्धसमान सदा पद मेरो’ यह बनारसीदास में आता है या नहीं? चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो - बस! इतनी बात। फिर मोह महातम, यह तो अनादि की बात है।

‘व्यवहारदृष्टि में कर्म का संयोग है, वह त्यागने योग्य है - ऐसा समझता है, जो संसारवास में क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता...’ आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा रोग आवे... क्या कहते हैं? यह पैर में हो जाता है न? उल्टी और दस्त, कॉलेरा! आहा...हा...! यह चाहता है कि रोग रहे? हैं? मलूकचन्दभाई को पता है, दो लड़कों को छोड़कर... तुम थे? यह तो दूसरे दो लड़के नहीं तुम्हारे? मांडलमें से दो युवा भाई... बहुत लोग थे।



कोलेरा हो गया, माँ-बाप साथ में, जंगल में पाँच सौ-छह सौ कितने लोग साथ थे? फिर इन्हें कोलेरा हो गया। लड़के चल नहीं सकते साथ में माल नहीं, मकान नहीं, वाहन नहीं, दोनों को जंगल में छोड़ दिया। जंगल में छोड़कर इनके माँ-बाप चले गये, भाई! हम क्या करें? हम रहेंगे तो हम मरेंगे, यहाँ कोई साधन नहीं... आस-पास पच्चीस-पचास गाँऊ में कोई गाँव नहीं, यह तो साथ में काफिला है, जहाँ जाओगे (वहाँ आयेंगे) चावल और दाल साथ में रखते, थोड़ा खाकर पूरा करे। ये दो युवा लोग, है! आहा...हा...! यह माँ-बाप उन्हें देखते हुए जंगल में चले गये। कोलेरा (हैजा) हुआ था। उठाये कौन? चलाये कौन? दे कौन? रखे कौन? आहा...हा...! इस जंगल में दो युवा अकेले, उसमें क्रमशः मरे होंगे, मुर्दा और यह अकेला... आहा...हा...! क्या हो? जगत की दशा निराधार अशरण है। शरण तो अन्दर में आत्मा है।

मुमुक्षु : ...

समाधान : हाँ, परन्तु है न! वह मैंने देखा है। हम जब छप्पनिया का प्लेग था न? प्लेग था, यह तो (संवत्) १९५७ के साल, दीक्षा के बाद नहीं, यह तो संसार में (थे तब की बात है) १९५६-१९५७ के साल में प्लेग था, बड़ा प्लेग। गर्मी में हमें पता है, हम तो छोटे लड़के, बालक, दरवाजा हो (वहाँ) सात-आठ मरे हों, पड़े हों और यह छप्पनिया में देखो न! मरे नहीं! छप्पनिया में दुष्काल (था)। प्लेग नहीं, दुष्काल पड़ा था, अकाल पड़ा था, तब दरवाजे के बाहर एक ऐसा, एक ऐसा, एक मर गया हो, एक जीवित हो, मरने की तैयारी हो, ऐसा नजरों से देखा है। १९५६ में दस वर्ष की उम्र थी और १९४६ में जन्म। अभी नजर के सामने दिखता है, हाँ! एक रोता था, एक मर रहा था, मर गया था, रात्रि में-जंगल में... यह सब तो नजरों से देखा है। दो भाईयों को रखा होगा। आगे पीछे मरे होंगे न? छप्पनिया के दुष्काल की बात है, लो! पेट खाली... मर गये। गेहूँ की घुँघनी देते, दरबार की तरफ से, गेहूँ... गेहूँ...। ऐसे मुट्ठी भरकर देते थे। खाये, फिर पानी

पीये और मर जाते। बहुत अधिक खाते... सब देखा था। हाँ! दस वर्ष की उम्र में देखा था। आहा...हा...! कोई शरण है? भाई! पड़ा हो, मरता हो तो (कहे), भाई...! वह भी मरने पड़ा हो, करना क्या? करे कौन? आहा...हा...! सम्यक्त्वी क्षणमात्र भी संसार में रहना नहीं चाहता। समझ में आया? है या नहीं अन्दर?

‘जो जानता है कि निर्वाण का उपाय मात्र एक अपनी शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव में लीनता है।’ चारित्र की प्रतीति हो गयी है, अपने स्वरूप में लीनता करना, वह चारित्र है और उस चारित्र के बिना कभी मुक्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। समझ में आया? ‘उसका निश्चितरूप से अभ्यास तब ही होता है, जब समस्त व्यवहार का त्याग किया जाए...’ देखो! समस्त व्यवहार। मुनिपने में जो पंच महाव्रतादि का विकल्प है, उस व्यवहार को भी छोड़कर अन्दर में ध्यान करे, तब चारित्र और रमणता होती है।

मुमुक्षु : यहाँ तो व्यापार-धन्धा लिया है।

उत्तर : यह सब व्यवहार, इन्होंने भले लिया हो। यह वस्तु है, यहाँ तो सर्व व्यवहार की बात है। यहाँ तो सर्व व्यवहार, व्यवहार शब्द से राग... जितना अभेदस्वरूप में से भेद-राग होता है, उस सबको व्यवहार कहते हैं। चाहे तो अशुभ हो, चाहे शुभ हो अरे...! गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी व्यवहार है, यहाँ तो सर्व व्यवहार, ऐसा पाठ है। आचार्य के हृदय में अकेले स्वभावसन्मुख होकर लीनता करना, वही जिसकी दृष्टि है। समझ में आया? ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने स्वभावसन्मुखता में व्यवहार को छोड़कर ध्यान करता है, अनुभव करता है और उसमें रहना ही ठीक मानता है। बाहर निकलना तो दुःख... दुःख... रोग... रोग... रोग... जानता है। समझ में आया? आचार्य का हृदय यह है। ‘छंडिवि सहु ववहार’ अपने निज स्वरूप की दृष्टि करनेवाला, अपने स्वरूप में रहने के लिए व्यवहार के विकल्प छोड़ देता है। समझ में आया?

‘तीर्थंकर के समान यथाख्यातरूप नग्न दिगम्बर पद धारण किया जावे, जहाँ बालक के समान सरल व शान्तभाव में रहकर, निर्जन स्थानों में आत्मा का अनुभव किया जावे। साधुपद में उतना ही व्यवहार रह जाता है...’ देखो! ‘जिससे भिक्षावृत्ति द्वारा शरीर का पालन हो व जब उपयोग आत्मीक भाव में न रहे तब शुद्धात्मा के स्मरण करानेवाले शास्त्रों के मनन में व धर्मचर्चा में स्तुति वन्दना पाठादि पढ़ने में उपयोग को रखा जावे।’ यह शुभ है, परन्तु इस शुभ को भी छोड़कर शुद्ध में जाता है।

‘व्यवहार धर्मध्यान व धर्म की प्रभावना करना इतना व्यवहार रहता है। आहार, विहार व व्यवहार धर्म को करते हुए साधु इस व्यवहार से भी उदास रहते हैं,...’ उसमें उत्साह नहीं, होश समझे न? उत्साह नहीं, राग है न, राग। उल्लसित वीर्य, स्वभावसन्मुख है, उल्लसित वीर्य स्वभावसन्मुख है। जो मन्द रागादि हैं, उसमें उनका वीर्य उल्लसित नहीं, उदास है। उस ओर का आदर नहीं, बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा हुआ, बहुत अच्छा हुआ, ऐसा नहीं।

‘आत्मा के पुरुषार्थ की कमजोरी से उनमें वर्तते हैं, जैसे-जैसे आत्मज्ञान की शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह व्यवहार भी छूटता जाता है तो भी साधुपद में इतनी अधिक आत्मरमणता का अभ्यास हो जाता है कि एक अन्तर्मूर्त से अधिक समय आत्मा का अनुभव बिना नहीं रहते हैं।’ समाधिगतक में आता है न! ‘पूज्यपादस्वामी’... अतत्पर। विकल्प में तत्परता नहीं, कमजोरी से आता है, तत्परता नहीं। भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव सन्मुख में उसकी तल्लीनता, बारम्बार भावना रहती है। समझ में आया? फिर लेते हैं। ‘व्यवहार धर्म और क्रिया का पालन छठवें गुणस्थान में होता है, आहार-विहार, निद्रा...’ देखो! ये कार्य छठवें गुणस्थान में होते हैं। प्रमादभाव है तब (होते हैं), यह तो प्रमादभाव है। है?

मुमुक्षु : यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पालन किये थे।

उत्तर : पालन कहाँ किये थे, आये थे; होते हैं, पालते हैं उसकी बात करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने भी पंच महाव्रत पालन किये थे, तुम कहते हो कि पंच महाव्रत आस्रव है। भगवान! आस्रव है तो आये बिना नहीं रहता, यह दूसरी बात है परन्तु उसका आदर है? अन्दर में वह उसे चारित्र मानते हैं? पंच महाव्रत तो आस्रव में आते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में पंच महाव्रत, अणुव्रत को आस्रव में लिया है।

मुमुक्षु : ‘धवल’ के आधार से संवर है।

उत्तर : ‘धवल’ के आधार से संवर किया ही नहीं। ‘धवल’ दूसरा कहता है? यह ‘जयधवल’ में आया है न? पण्डितजी! यह शुद्ध और शुभ के बिना निर्जरा नहीं होती - ऐसा पाठ है परन्तु वह तो निमित्त का कथन है। शुद्ध से निर्जरा है, वहाँ शुभ निमित्त को निर्जरा में गिन लिया है। जैसे, निमित्त के कथन में दो मोक्षमार्ग है, परन्तु वास्तविक मोक्षमार्ग एक ही है। इसी तरह निर्जरा में दो गिन लिए हैं, (वरना) निर्जरा एक ही है। कथन में दो प्रकार चले हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

अब यह पण्डित-वण्डित इकट्ठे होकर... यह ‘बंशीधरजी’ बड़े पण्डित हैं, सबको इकट्ठे करके कुछ करो, तुम बड़े पण्डित हो, तुम्हारी बहुत प्रसिद्धि है। ७५ पण्डितों को इन्होंने पढ़ाया है। अरे...! भगवान! ऐसा समय मिला, उसमें क्या झगड़ा करना। सत्य है उसका स्वीकार करो, भाई! झगड़ा छोड़ दो। यह बेचारा कहता है, हाँ! सागरवाले ‘मुन्नालाल’... दो मिनट का काम है, यह क्या झगड़ा उठाया है? एक बार पण्डितजी को कहा था, समाचार पत्र में आया था, हाँ! निश्चय, व्यवहार, उपादान, निमित्त और क्रमबद्ध पाँच बोल हैं, दो मिनट का काम है। इतने-इतने पैसे, हजारों पैसे, जयपुर की बड़ी चर्चा उसका पुस्तक छपेगा। दस हजार से ज्यादा तो पैसा चाहिए, वह तो वे नहीं देंगे, यह देंगे पूनमचन्दजी। अरे...! भगवान यह चीज है? इतनी

चर्चा हुई तो बाहर आने में क्या आपत्ति है? लोग पढ़े, उसमें क्या है? पण्डितों के बीच इतनी चर्चा हुई, उसमें मध्यस्थरूप से वे थे। अपने बड़े पण्डित... चर्चा बाहर आवे तो क्या बाधा है? वे इनकार करते हैं, नहीं। यह लोग छापते हैं, १५२ पृष्ठ आये हैं, कितने हैं? १५२ पृष्ठ आये हैं।

मुमुक्षु : सब चला है।

उत्तर : सब चला है। सब चला है, क्या? इसके लिए तो बात करते हैं, यहाँ आ गया है, १५२ पृष्ठ छपकर आ गये हैं। अभी 'फूलचन्दजी' काम में हैं, ललितपुर में मकान बनाते हैं, रूक गये हैं, हम तो इन्तजार करते हैं कि क्यों आये नहीं? १५२ पृष्ठ आ गये, बाहर में प्रकाशित हो, उसमें क्या है? दोनों के तर्क को सुनेंगे, उसमें बाधा क्या है? और बड़े पण्डित तो मध्यस्थता में थे, बाहर आने दो, क्या है... है क्या? डरते क्यों हो? चर्चा बाहर नहीं छपाओ (ऐसा कहते हैं)। उसमें हानि-वृद्धि की क्या बात है? चीज क्या है वह समझेंगे, विचार करेंगे।

इन मुनि को छोटे गुणस्थान में 'व्यवहार कार्यों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय लगे तो बीच-बीच में सातवाँ गुणस्थान क्षण भर के लिए आत्मानुभवरूप हो जाता है।' आहा...हा...! मुनि की दशा तो पौन सेकंड की निद्रा छठवें गुणस्थान में आ जाती है। ज़रा आहार का विकल्प (आवे उतना) एकदम विकल्प छूटकर सातवें में (आ जाते हैं)। ओ...हो...! यह चारित्र की रमणता! सन्तपना, मुनिपना, परमेश्वरपद में मिल गये हैं। पंच परमेष्ठी! कहते हैं कि उनको ध्यान की लगन लग गयी है। आहा...हा...! आहार में आना, विकल्प आता है तो खेद होता है। अरे...! हमारा अनाहारी अमृत भोजन (और यह क्या?)

मुमुक्षु : मुनि तो शुद्ध उपयोग में रहने की ही प्रतिज्ञा करते हैं।

उत्तर : प्रतिज्ञा ही शुद्ध उपयोग की है। 'जयधवल' में ऐसा आया है कि मैंने तो शुद्ध उपयोग की प्रतिज्ञा

की है, यह आहार का विकल्प आया तो मैंने प्रतिज्ञा तोड़ी है - ऐसा पाठ है। इसलिए मृत्यु के समय मैं फिर से शुद्धोपयोग ग्रहण करता हूँ, प्रत्याख्यान करता हूँ - ऐसा आता है। विकल्प उठता है - राग है, आता है परन्तु मैंने तो शुद्ध उपयोग की प्रतिज्ञा की है। मुझे तो शुद्ध उपयोग में रहना है, ऐसा पाठ है, हाँ! 'जयधवल' में है। प्रत्याख्यान... मैंने प्रत्याख्यान तो (प्रतिज्ञा तो) शुद्धोपयोग में रहने का लिया था। यह क्या? मेरे प्रत्याख्यान का भंग हुआ। आहार, पानी, बोलना, ऐसा विकल्प आया, यह तो भंग हुआ, फिर से प्रत्याख्यान लेता हूँ। ओहो...हो...! ऐसी दशा! स्वभाव के आश्रय से लीन होने का उपाय / मार्ग है। बीच में राग आता है, हो, व्यवहार है, बन्ध के कारण से हटना (और) स्वरूपानुभव में रहना, यही मार्ग है। कहो, समझ में आया?

'सम्यग्दृष्टि के गृहत्याग व साधु पद का ग्रहण तब ही होता है, जब उसके भीतर प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने पर...' यह तो कुछ नहीं। पुरुषार्थ वृद्धिगत होता है। सहज वैराग्य जग जाता है। 'वह दृढतापूर्वक बिना परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता है।' सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानपूर्वक-भानपूर्वक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपूर्वक प्रतिज्ञा लेता है। लोगों के साथ आवेश में आकर तत्त्वज्ञानी प्रतिज्ञा नहीं लेता है। आया था न? भाई! 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में आया है, यथाशक्ति। लोग ले लेते हैं इसलिए मैं ले लूँ (ऐसा नहीं)। मेरे पुरुषार्थ की जागृति, सहज पुरुषार्थ कितना काम करता है? बस! इतना देखता है। उसमें कोई भंग नहीं पड़ता, उत्साह में शिथिलता नहीं आ जाये, उत्साह में शिथिलता न आवे कि बहुत बोझा हो गया, यह तो बाह्य हो गया, अस्थिरता हो गयी, खेद हो गया। समझ में आया? धर्मी जीव तो अपने परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए बिना किसी ऊँची क्रिया को धारण नहीं करता।

'जब तक सहज वैराग्य न आवे व परिणामों

के अनुसार श्रावक पद के भीतर रहकर यथासम्भव दर्शन-प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टत्याग ग्यारहवीं प्रतिमा तक के चारित्र को पालकर आत्मानुभव के लिए अधिक अधिक समय निकलता है। पहली प्रतिमा, दूसरी प्रतिमा... शान्ति की वृद्धि है। जैसे-जैसे अन्दर शान्ति की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे अनुभव में आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करता है। समझ में आया? फिर बहुत बात की है।

देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं, लो!

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्वबावडो चित्तो।

उगतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ।।
३५।।

‘जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है...’ आहा...हा...! ‘मोक्षपाहुड़’ में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं - ‘परदव्वादो दुग्गई, सदव्वादो हु सुग्गई’ (गाथा १६) जितना परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाता है, वह सब दुर्गति है। आहा...हा...! वह व्यवहार है। ‘सदव्वादो हु सुग्गई’ अपना स्वद्रव्य शुद्ध की ओर रुचि - गमन होना, वह सुगति है, उसका

नाम सुगति है। ‘परदव्वादो दुग्गई’ ऐसा पाठ ‘मोक्षपाहुड़’ में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव (कहते हैं) दो पक्ष हैं - स्वभाव की ओर सावधान होना, वह मोक्षमार्ग है; पर की ओर राग होना, वह दुर्गति है। दुर्गति अर्थात् अपनी गति दूसरी ओर चली है। आहा...हा...!

‘जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है व संलग्न है, तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है...’ परद्रव्य की ओर के झुकाव में विकल्प रहता है और अन्तर निर्विकल्प अनुभव नहीं है, तब तक उसे मोक्ष नहीं होता ‘परन्तु शुद्ध आत्मीक भावों का लाभ होने पर...’ शुभविकल्प की क्रिया चाहे जितनी हो, उससे संवर-निर्जरा नहीं होती। इसलिए उसे छोड़कर अपने शुद्धभावों से आत्मा का लाभ होने पर, परमानन्द प्रभु आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान में लाभ होने पर स्थिरता करने का प्रयत्न करता है, ‘वह होने पर शीघ्र ही मोक्ष को पा लेता है।’ ऐसा आत्मा अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त होता है। संसार-वंसार उसे नहीं रहता। यह ८९ (गाथा) पूरी हुई।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। यह प्रवचन पूर्ण होने के बाद राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचनों का प्रारम्भ किया जायेगा। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (फरवरी-२०२२) का शुल्क ... के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२५२ पर भाववाही
प्रवचन, दि. २५-५-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-११० (विषय : मार्गदर्शन)

भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपसे विराजमान है उसे अतीन्द्रिय ज्ञानसे जाना जाता है, पर वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। ज्ञायक आत्मा लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य नहीं करता। जो इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य करे वह आत्मा नहीं है। इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिये जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे-वह ज्ञान ही अनात्मा है। शास्त्र-श्रवण द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको आत्मा नहीं कहते हैं। शास्त्र-श्रवण करते हुए खयाल आता है कि 'ऐसा कहते हैं'—ऐसा जो ज्ञान होता है उसे इन्द्रिय द्वारा हुआ होनेसे आत्मा नहीं कहते। २५५.

(१२-०० मिनट से)

२५५. 'भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपसे विराजमान है...' यह अपना भगवान आत्मा, देह के संयोग में रहा हुआ यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप से, मूल स्वरूप से, भगवान स्वरूप से, ज्ञायक स्वरूप से विराजमान है। सदा, हाँ! अनादिअनंत। अतः अभी भी। सदा ही विराजमान है अर्थात् अभी भी विराजमान है। 'उसे..' उस आत्मा को 'अतीन्द्रियज्ञान से जाना जाता है...' ऐसे ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा को जानने में ज्ञान अतीन्द्रिय पर्याय धारण करे। इन्द्रिय द्वारा प्रवर्तता ज्ञान बाह्य पदार्थों के प्रति इन्द्रिय द्वार से प्रवर्तमान ज्ञान मुड़कर ऐसा बहिर्भावरूप ढलन छोड़कर अंतर्मुख हो, अतीन्द्रियरूप परिणमन हो तब उसका जानना होता है, तब यह अतीन्द्रिय ज्ञायक भगवान आत्मा का जानना होता है। आत्मा स्वयं भी अतीन्द्रिय स्वरूप है। शरीरवाला, इन्द्रियवाला आत्मा नहीं है। ये जड़ अवयव है वह तो प्रत्यक्ष जड़ रजकण परमाणुओं का समूह है उसे द्रव्यइन्द्रिय शास्त्र में कहा है। जड़ द्रव्य होने के

कारण उसे द्रव्यइन्द्रिय कहा है। उसके द्वारा प्रवर्तमान जो ज्ञान और राग का पर्याय, उसे भावेन्द्रिय कहने में आता है। जानता भी है और राग-द्वेष-मोहरूप परिणमता भी है। ऐसा जो एक पर्याय में होता है उसे भावेन्द्रिय कहने में आता है। जड़ रजकण की द्रव्येन्द्रियवाला तो आत्मा नहीं, परन्तु भावेन्द्रियवाला भी आत्मा नहीं है। वह भाव तो आत्मा का है। आत्मा जानता है, आत्मा मोह करता है। तो यहाँ उसके मूल ज्ञायक स्वरूप का विषय चलता है।

मूल ज्ञायक स्वरूप दर्शाने हेतु ऐसा कहने में आता है कि ऐसा ज्ञायकस्वरूप नहीं है। जो भावेन्द्रियरूप भाव है ऐसे भावरूप, उस स्वभावरूप भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वरूप नहीं है। उससे विलक्षण प्रकार का अतीन्द्रिय स्वरूप है। इन्द्रिय रहित, भावेन्द्रिय रहित अतीन्द्रिय स्वरूप है। और वह अतीन्द्रिय स्वरूप आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही अनुभवगोचर होता है। इन्द्रियज्ञान द्वारा वह अनुभवगोचर नहीं होता।

अब इस सिद्धांतमें से क्या स्पष्ट होता है? कि

अभी स्वाध्याय करने के समय मन द्वारा, विचार द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होगा, ऐसा कहना चाहते हैं। मन द्वारा आत्मा का विचार करनेपर शास्त्र के निमित्त से चक्षु इन्द्रिय द्वारा शब्दों का पढ़ना, कर्णेन्द्रिय द्वारा के विशेषण, सामान्य विशेष अनेक प्रकार से आत्मा के स्वरूप का श्रवण करना, चक्षु इन्द्रिय द्वारा आत्मा कहना चाहते हैं ऐसे वचनों का पढ़ना और कर्णेन्द्रिय द्वारा उसका श्रवण करना, उस प्रकार की प्रक्रिया के साथ-साथ मन द्वारा उसका विचार करना। ऐसा जो इन्द्रियज्ञान युक्त परिणामन है उससे आत्मा ज्ञात नहीं होगा। उसके द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता ऐसा कहना चाहते हैं।

ये प्रश्न करते हैं न कि, अधिक स्पष्ट करके हमें समझाईये तो हमें आत्मा समझ में आयेगा, और स्पष्ट कीजिए, दृष्टान्त से स्पष्ट कीजिए। भाषा से, वचन से जितना स्पष्ट कर सको उतना स्पष्ट करके आत्मा के विषय में समझाईये तो हमें आत्मा समझ में आये। उसकी यहाँ आचार्यदेव ना कहते हैं कि आत्मा स्वरूप से अतीन्द्रिय होने से, अतीन्द्रिय स्वरूपी आत्मा इन्द्रियज्ञान से उसको उस ज्ञान द्वारा विषय नहीं किया जाता। वह इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं होता। अतः वह अभिप्राय तोड़ देना चाहिये कि यँ ही पढ़ते-पढ़ते, विचार करते-करते, सुनते-सुनते आत्मा ज्ञात हो जायेगा और आत्मा का ज्ञान होगा। यह अभिप्राय उसको तोड़ देना चाहिये। पढ़ते हुए, सुनते हुए और विचार करते हुए भी अभिप्राय में भी ऐसा रहना चाहिये कि ये इन्द्रिय की ओर का झुकाव छोड़कर ज्ञान अतीन्द्रियता धारण करेगा तब उसमें आत्मा अनुभवगोचर होगा। तब उसमें आत्मा ज्ञात होगा। तब तक आत्मा ज्ञात नहीं होगा।

मुमुक्षु :- ऐसा रहना चाहिये ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, समझ में ऐसा बराबर रहना चाहिये। सुनते वक्त, पढ़ते वक्त, विचार करते वक्त।

मुमुक्षु :- अभी तक कल्पना ही की न ?

पूज्य भाईश्री :- कल्पना माने ? सुनते-सुनते, विचारते-विचारते, पढ़ते-पढ़ते आत्मा ज्ञात होगा, यह कल्पना है। परन्तु इन्द्रियज्ञान से ज्ञात नहीं होगा, अतीन्द्रिय

ज्ञान से ज्ञात होगा। यह बराबर है। ऐसा समझना यह बराबर है। यह विपरीत समझना होता है कि पढ़ते-पढ़ते मुझे ज्ञान होगा, सुनते-सुनते मुझे ज्ञान होगा, अन्दर में विचार करने से, चिंतन करने से, मनन करनेसे, चिंतन-मनन करने से मुझे ज्ञान होगा, आत्मा का चिंतन करूँगा तो मुझे ज्ञान होगा। आत्म स्वरूप का मनन करूँगा तो मुझे ज्ञान होगा। इस विधि से मुझे आत्मज्ञान होगा ऐसा यदि अभिप्राय रखे या समझ रखे तो तो वह स्पष्टतया विपरीत समझ है। परन्तु इस प्रकार का बहिर्मुख भाव छोड़कर ज्ञान अंतर्मुख होगा, अतीन्द्रिय भावरूप परिणामित होगा तब उसमें आत्मा विषय होगा, जानना होगा, अनुभवगोचर होगा। ऐसा समझना यह बराबर है।

अब, ऐसा समझे तब क्या है कि उसका पढ़ना, विचार करना, सुनना उस पर वजन कम हो जाता है। यानी कि उसका बहिर्मुख भाव पर का वजन कम हो जाता है। यहाँ तो अभी उतनी निवृत्ति नहीं लेता, उसको उस पर वजन नहीं रखना, ऐसा कैसे कहना ? यहाँ तो निवृत्ति लेकर ऐसा पढ़े-सुने उसको भी ऐसा कहते हैं कि कि, देखना, वहाँ वजन रहा तो पूरा मार्ग विपरीत हो जायेगा, मार्ग हाथ नहीं लगेगा। तुझे उन बहिर्मुख भावों का रस आयेगा, उन बहिर्मुख भावों की महत्ता तुझे लगेगी और उन बहिर्मुख भावों में तू लीन रहेगा तो अटक जायेगा। विपरीत दिशा में तू आटक जायेगा। ऐसा कहना है।

‘अतीन्द्रिय ज्ञानसे जाना जाता है, पर वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य उसको नहीं होता।’ आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य नहीं होता। इन्द्रियज्ञान से उसको जानना हो ऐसा नहीं बनता और ऐसा आत्मा इन्द्रियज्ञान द्वारा जाने ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जानने का परिणामन हो ऐसा उसका स्वभाव है। इन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा जानता रहे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है ऐसा कहना है। वह तो उसका विभाव है।

मुमुक्षु :- वह तो खयाल में होता ही है, प्रत्येक

मुमुक्षु को खयाल में होता है कि इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होगा।

पूज्य भाईश्री :- खयाल में है तो उसको उस ओर का वजन कम हो गया है? बस, इतना सवाल है। खयाल किसको कहना? खयाल अनुसार यथार्थता तो यह आनी चाहिये कि उसका वजन कम हो जाना चाहिये। और अतीन्द्रिय ज्ञान होने की ओर उसका पुरुषार्थ चालू होना चाहिये। तो उसका खयाल बराबर है। अन्यथा चोर चोरी करता है, तो कहता है, मालूम है, ये अलमारी खोली, तो कहता है, मालूम है। ये गहनों की पेटी उठाई, तो कहता है, मालूम है। ये लेकर चला गया और कहता है, मालूम है। लेकिन क्या खाक मालूम है? ये सब चला गया। खयाल में है, खयाल में है किस काम का? खयाल तो वह है कि शीघ्र ही उसका ज़ोर पकड़े बिना रहे नहीं।

बहिर् भावों का उसका ज़ोर शिथिल हो जाये और अंतर्मुख भावों का उसका ज़ोर बढ़ने लगे। जब तक पूर्णता न हो तब तक साधक को भी शास्त्र का अध्ययन, चिंतवन, मनन, श्रवण, वाचन इत्यादि चलता है, तो भी उसपर उसका ज़ोर नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसका वजन उसके अंतर्मुख परिणमन पर है। उसका पूरा रस वहाँ है, यहाँ बाहर में उसका रस नहीं होता।

अब दूसरे वचन में ऐसा है 'इन्द्रिय द्वारा जानने का उसे कार्य नहीं होता। उसको...' यानी कि यहाँ उसे 'ज्ञायक आत्मा लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य नहीं करता।' तो यह कौन जानता है? पाँच इन्द्रियों द्वारा जानता है वह अनात्मा है ऐसा यहाँ कहते हैं। आत्मा की जाति का आत्मा नहीं परन्तु अनात्मा की जाति का आत्मा वह हो गया, संसारी आत्मा हो गया, वह विभावी आत्मा हो गया, वह स्वभावी आत्मा न रहा, ऐसा कहते हैं।

'उसको यानी ज्ञायक आत्मा को...' ऐसा। सीधा स्वभाव ग्रहण करवाते है। जो स्वभावस्वरूप ज्ञायक आत्मा है उसे, ये पाँचों इन्द्रियों द्वारा, उसके पाँच इन्द्रिय के साधन द्वारा उसको जानना नहीं होता।

ऐसा उसका स्वरूप है, ऐसा कहना है। यहाँ आत्मा का अतीन्द्रिय स्वरूप कैसा है यह बताना है। कहनेवाले क्या कहना चाहते हैं? यह कहना चाहते हैं कि इन्द्रियज्ञान द्वारा जानना हो ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह पढ़ना हो, विचारना हो, श्रवण हो ऐसा जो ज्ञान में होता है ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है ऐसा कहते हैं। क्योंकि ऐसे स्वभावरूप आत्मा नहीं है कि जो इन्द्रियज्ञान द्वारा जाने। ऐसे स्वभावरूप आत्मा नहीं है। अतीन्द्रिय ऐसा आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमनरूप परिणमन करे ऐसा उसका स्वभाव और ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसा कहना चाहते हैं।

अतः पूरी जो इन्द्रियज्ञान के पर्यायों की कतार है उन सब को अनात्मा में डाल दी। ऐसा आत्मा है ही नहीं, वह उसका स्वरूप ही नहीं है। फिर वह बहिर्मुख ज्ञान में कितना मुस्ताक होकर घुमेगा? उसका उसे कितना अहंभाव करना बाकी रहा? वह मैं हूँ ही नहीं, वह मेरा स्वरूप ही नहीं है। बहुत शास्त्र जाने, बहुत जाना और बहुत आ गया। कहते हैं कि तू अनात्मा में आत्मा मानने लगा है, उसमें दूसरी कोई बात नहीं है। अनात्मा में आत्मा मानने की बात है। जैसे बाह्य वैभव में अपनत्व मानकर कोई अहंकार करता है। वैसे ही क्षयोपशम ज्ञान के बहिर्मुख, बहिर्मुखी बहिरलक्ष्यी ज्ञान में जो अहंभाव धारण करता है उसका और उसका वर्ग कोई अलग नहीं रहता। एक वर्ग के हो गये, ऐसा कहना है।

'उसको यानी ज्ञायक आत्मा को...' ऐसा। इस आत्मा को नहीं। 'ज्ञायक आत्मा लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य नहीं करता।' अर्थात् 'जो इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य करे वह आत्मा नहीं है।' ठीक! उसे आत्मा ही नहीं कहते। ऐसा कार्य वास्तव में आत्मा नहीं करता ऐसा कहते हैं। ज्ञान का जो अतीन्द्रिय परिणमन है वही आत्मा का ज्ञानमय स्वाभाविक परिणमन है। वह आत्मा का निज कार्य है, स्वभाव रूप कार्य है, उसके स्वरूप के साथ मेल हो ऐसा कार्य है। इन्द्रियज्ञानरूप परिणमन करे वह

आत्मा के स्वरूप के साथ मेल हो ऐसा कार्य नहीं है।

अभी तो संप्रदाय में जीवों को मंद राग से आत्मा का कार्य और धर्म होता है ऐसा मानना है। यहाँ तो कहते हैं कि तेरे बहिर्मुखी शास्त्रज्ञान से, बहिर्मुखी आत्मिक विचार से, चिंतन से, मनन से भी आत्मा का जो कार्य नहीं है, मूल में उसे आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है, आत्मा से विरुद्ध जाता है ऐसा परिणामन ज्ञान का हो भी वह ऐसा परिणामन है। ऐसा कहकर एकदम उसकी बहिर्मुख दिशा छुड़ायी है। ये बहुत अच्छी गाथा है। 'प्रवचनसार' की १७२वीं गाथा है, उसमें अध्यात्म की बहुत बातें 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' ने आत्मा के विषय में स्पष्ट की हैं।

कहते हैं कि 'इन्द्रियों द्वारा जाननेका कार्य करे वह आत्मा नहीं है। इन्द्रियाँ अनात्मा है,...' जो इन्द्रियाँ हैं वे अनात्मा हैं। इन्द्रियज्ञान है वह अन-आत्मा है, आत्मा नहीं है, आत्मा नहीं है ऐसा कहते हैं। वह निश्चय से अनात्मा है। जैसे पुद्गल रजकण अनात्मा है वैसे इन्द्रियज्ञान भी अनात्मा है। उसे आत्मा नहीं कहते। 'इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिये जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे-वह ज्ञान ही अनात्मा है।' इन्द्रिय द्वारा, इन्द्रिय साधन द्वारा जानने का कार्य करे वह ज्ञान ही अनात्मा है।

यहाँ लोग कहते हैं न, कि आँख में तकलीफ हुई है। आँख में तकलीफ हुई है तो कुछ भी करके आँख को बचाओ। चाहे जितने पैसे लगे लेकिन आँख बचे ऐसा करो। अब इतनी कीमत क्यों है उसकी? कि उसको ही आत्मा माना है। जड़ शरीर को देहात्मबुद्धि से आत्मा माना होने से (उसको ही आत्मा माना है)।

... उससे तेरा संसार चलता है कि दूसरा कुछ चलता है? तुझे संसार चलाना है तो तू चला। अनन्त काल से तेरा संसार चालू है और अब भी वह काम की चीज है ऐसा जब तक मानेगा तब तक, अनन्त काल मानेगा तो अनन्त काल पर्यंत तेरा संसार चलेगा। दूसरा कुछ उसमें से चलने का सवाल नहीं रहता। और हमेशा दुःखी होगा, सदा ही दुःखी होगा, उसमें दूसरा कुछ

नहीं है। दुःखी हुए बिना नहीं चलेगा। ऐसा मानने से दुःखी हुए बिना नहीं चलेगा। ऐसा है लो।

मुमुक्षु :- सुखी नहीं होगा।

पूज्य भाईश्री :- सुख की गंध भी नहीं आयेगी। इन्द्रिय की ओर झुके हुए ज्ञान के परिणामन में सुख की गंधमात्र भी नहीं आयेगी। सुख आने का तो सवाल ही नहीं है। वह स्वयं दुःख का उत्पादक है। जो कुछ इन्द्रिय द्वारा परिणामन होता है वह दुःखभाव को साथ लेकर परिणामन उत्पन्न होता है। दुःखसहित ही होता है, दुःखसहित ही परिणामन होता है। उसमें सुख होने का सवाल ही कहीं नहीं है।

'इसलिये जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे-वह ज्ञान ही अनात्मा है।' बाहर का शरीर-खोखा तो अनात्मा है ही, परन्तु उसके द्वारा जानने का कार्य करे वह ज्ञान भी अनात्मा है। ज्ञान को यहाँ अनात्मा कहा, ठीक! राग को तो अनात्मा कहने में आता है। क्योंकि वीतराग स्वरूपी आत्मा राग है उससे विरुद्ध जाति का भाव है। इसीलिये तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा आनंदअमृतस्वरूप है और राग है वह ज़हर है। तीव्र हो या मंद हो, राग है वह ज़हर है, ऐसा कहने में आया है उसका कारण यह है कि आत्मा आनंदअमृतस्वरूप है। वह तो राग और वीतरागता परस्पर विरुद्ध होने से तो खयाल में आये। लेकिन यहाँ ज्ञान पर भी यह बोल उतारते हैं कि जो ज्ञान इन्द्रिय के साधन द्वारा कार्य करता है वह ज्ञान भी अनात्मा है। वह ज्ञान भी जड़ है। वह ज्ञान भी संसार में रखडानेवाला, नया कर्मबंधन करनेवाला ज्ञानावरणीय-ज्ञान को आवरण करनेवाला वह ज्ञान है।

जो मनुष्य अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी मारे, जो स्वयं ही अपने पर कुल्हाड़ी मारे, उस कुल्हाड़ी को उसने घर में बसायी है, ऐसा कैसे कह सकते हैं? जो रक्षा करने के बजाय स्वयं का नाश करे। ये कुल परंपरा पुत्र से चलती है न? पुत्र को ही मार डाले। पुत्र को ही मार डाले, अपने ही पुत्र को मार डाले, कुल का नाश करे। वह कैसा कार्य करता है? यहाँ स्वयं का नाश करता है।

ज्ञान, ज्ञानावरणीय का बंधन हो ऐसा परिणमन करे तो उस ज्ञानने क्या किया? उसकी परंपरा उसने बंद कर दी। ज्ञान का अभाव हो, ज्ञान का नाश हो और क्रमशः जीव निगोद में चला जाये ऐसा वह कार्य हुआ। इन्द्रियज्ञान से ऐसा कार्य होता है ऐसा कहते हैं। इसलिये वह ज्ञान ही अनात्मा है।

‘इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिये जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे-वह ज्ञान ही अनात्मा है। शास्त्र-श्रवण द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको आत्मा नहीं कहते हैं।’ ठीक! यहाँ तक लिया। उसकी अंतिम हद क्या है? इस इन्द्रियज्ञान की अंतिम हद क्या है? कि शास्त्र सुने और उसके द्वारा जो ज्ञान हो, श्रवण के निमित्त से जो ज्ञान हो उस ज्ञान को आत्मा नहीं कहते। ठीक!

मुमुक्षु :- सुनना बंद करे।

पूज्य भाईश्री :- शास्त्र सुनना बंद करे, अंतर में लीन हो जाये। शास्त्र सुनना बंद करे तो उसे अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट हो, उसको धन्य घड़ी और धन्य भाग्य कहने में आये, यदि ऐसा कर सके तो।

समवसरण में अनेक जीव भगवान की दिव्यध्वनि, अंतर लीन होने के काल में सुननी बंद करते हैं। भगवान को ऐसा नहीं लगता होगा कि ये मेरा अनादर कर रहा है? ये सुनता क्यों नहीं है? मैंने उसको ऐसा ही कहा था कि मेरे सामने मत देख, तू तेरे सामने देख। वह तूने कब सुना? कि जब तुने तेरे सन्मुख देखा तब। अन्यथा वह बात सुनी है वह अनसुनी रह जाती है, सुनी नहीं है, सीधी बात है।

एक बार तो ‘गुरुदेवश्री’ के प्रवचन में यह बात आयी कि मिथ्यादृष्टि जीवों का शास्त्रादि सुनने का ज्ञान तो अनात्मा है। परन्तु साधकजीव की ज्ञान की पर्याय में दो भाग है। एक समय की ज्ञान की पर्याय में दो भाग। समय एक और विभाग उसके दो। एक समय की पर्याय का पर्याय अंश अंतर्मुख है और उसी समय की पर्याय का एक अंश बहिर्मुख है। जो अंतर्मुख है वह अतीन्द्रियरूप है, वह आत्मारूप है। और जो बहिर्मुख

अंश है वह अनात्मारूप है साधक को। अब, वह साधक कब तक है? कि चतुर्थ गुणस्थानवाला साधक है, पंचम गुणस्थानवाला साधक है और छठवें-सातवें गुणस्थान में मुनि, उपाध्याय और आचार्य भी साधक हैं। और उन आचार्यों में आचार्य पदवी में विराजमान गणधरदेव पर्यंत भी आचार्य की पदवी में आते हैं। गणधरदेव को आचार्य कहते हैं। तीन पद हैं वह साधु के हैं। उसमें गणधरदेव आचार्य की पदवी में विराजमान हैं। उस गणधरदेव का जो उपयोग अंतर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करता है वह अनात्मा है। वह ज्ञान नहीं है परन्तु वह जड़ है। प्रवचन में ऐसा खुल्ला-खुल्ला कहा। वह ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है ऐसा कहते हैं, लो ठीक! ऐसे आत्मा की पहचान करवानी है। ऐसा कहकर मूल आत्मा का ज्ञायकस्वरूप कैसा है यह बताना है।

जो गणधरदेव चार ज्ञान के स्वामी हैं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। अन्य मुनियों को तो मनःपर्यय ज्ञान हो या नहीं भी हो, लेकिन गणधरदेव को तो होता, होता और होता ही है। सब आचार्यों को मनःपर्यय ज्ञान नहीं होता। अवधिज्ञान भी सब आचार्यों को अथवा सभी साधकों को नहीं होता, परन्तु गणधरदेव को तो चारों ज्ञान होते हैं। एक केवलज्ञान प्राप्त करना ही बाकी है। और इतना उघाड.. इतना उघाड कि अंतर्मुहूर्त में चार अंग की रचना हो जाये। इतना उघाड है। लिखने बैठे तो आयुष्य छोटा पड़े। बारह अंग लिखने बैठे तो आयुष्य छोटा पड़े। इतना विशाल क्षयोपशमवाला ज्ञान भी आत्मा के आधार से उत्पन्न नहीं हुआ होनेसे, क्योंकि वह (आत्मा के आधार से उत्पन्न हुआ ज्ञान) तो निर्विकल्प है। बारह अंग का ज्ञान तो सविकल्पात्मक है। और आत्मा के अवलंबन से उत्पन्न हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान तो निर्विकल्प है। वह निर्विकल्प ज्ञान है वह ज्ञान है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। सविकल्प ज्ञान वह ज्ञान नहीं है। उसे अनात्मा और जड़ कहने में आता है। ऐसा कहकर यहाँ निर्विकल्प ज्ञायक आत्मा कैसा है यह बताना है। कहने का तात्पर्य इतना

है।

इसलिये ऐसा कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ अनात्मा है, इसलिये जो उनके द्वारा जाननेका कार्य करे- वह ज्ञान ही अनात्मा है। शास्त्र-श्रवण द्वारा जो ज्ञान होता है उस ज्ञानको आत्मा नहीं कहते हैं।' ठीक! शास्त्र श्रवण से या शास्त्र स्वाध्याय से जो ज्ञान हो उस ज्ञान को आत्मा नहीं कहते। बात की थी न? 'पूज्य बहिनश्री' की परीक्षा के काल में, उनको एक शास्त्र की गाथा दी कि इसका अर्थ करो। ज्ञान क्या है यह मालूम तो पड़े। ज्ञान हुआ है या नहीं? जिसके निमित्त से ज्ञान हुआ हो उनके प्रति बेहद भक्ति तो होती ही है, बेहद बहुमान तो होता ही है। फिर भी परीक्षा के काल में उसे रखकर, वह बहुमान रखकर यह बात है। शास्त्र वापस दे दिया। अर्थ नहीं किया। आता है, नहीं आता है उसका यहाँ सवाल ही नहीं है, कहते हैं। अर्थ करना आये तो ज्ञान और न आये तो ज्ञान नहीं, ऐसा यहाँ सवाल नहीं है। यहाँ तो यह निर्विकल्प वेदन अनुभव में आता है, यह प्रत्यक्ष वेदन है सो ज्ञान है। उसका नाम ज्ञान है। भगवान ने उसको ज्ञान कहा है। अन्दर से भगवान आत्मा ऐसा कहता है कि इसका नाम ज्ञान है। शास्त्र का अर्थ करना आये उसका नाम ज्ञान नहीं है। उसको तो यहाँ अनात्मा कहते हैं। ये तो आचार्यों ने बात कही है न गाथा में? 'गुरुदेवश्री' ने तो विस्तार किया है।

यह, महा धर्मधुरंधर आचार्य यह बात करते हैं। गणधर की पदवी और आचार्य की पदवी समान पदवी है। 'अमृतचंद्राचार्य', 'कुन्दकुन्दाचार्य' आचार्य पदवी में थे। 'जयसेनाचार्य' आदि, जिनके पीछे आचार्य लगता है, वे आचार्य पदवी में थे। स्पष्ट बात करते हैं। यह बराबर पकड़ में आये तो उसको स्वयं के क्षयोपशम पर अल्प भी वजन न जाये।

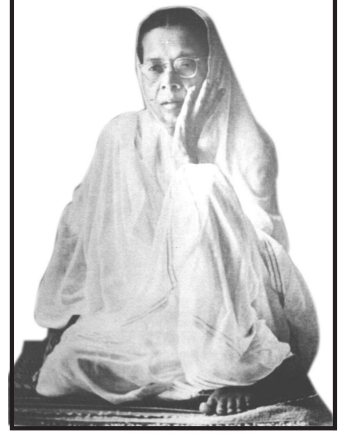
यहाँ तो थोड़ा अच्छा बोल सके या लिख सके तो उसको ऐसा लगे ओहो..! लेकिन भाई! वह बोलने की भाषा पुद्गल की है। मेरी विद्वत्ता इतनी है कि एक बात कहने के लिये मेरे पास अनेक शब्द (हैं), उतना

तो शब्द-भण्डार रखता हूँ। एक ही बात कहने के लिये अनेक शब्दप्रयोग कर सके। कहते हैं कि लेकिन वह सब जड़ है। वह शब्द तो जड़ है, वाणी तो जड़ है, परन्तु तेरा ऐसा ज्ञान भी जड़ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। जड़ में अहंपना करनेवाले को जड़ता आती है, दूसरा कुछ नहीं होता। जो-जो जड़ तत्त्व हैं, जड़ पदार्थ हैं उसमें अहंबुद्धि करनेपर, उसमें ममत्व करनेपर उसका भाव जड़ सदृश्य जड़ जैसा हो जाता है। उसमें से दूसरा कुछ नहीं होता। और वह चैतन्यस्वरूप, निज अनंत चैतन्यस्वरूप से दूर जाता है।

अन्दर में देखे तो उसका चैतन्य अनंत है, अनंत चैतन्य भरा है। जिसे कोई तलवा नहीं है। उतना अन्दर में चैतन्य भरा है। तत्त्व दृष्टि से उतना अनंत चैतन्य अन्दर भरा है। उससे इन्द्रियज्ञान द्वारा दूर जाता है। उसको यहाँ वापस मोड़ते हैं। उस दिशा में तू मत जा। तू बाह्य दिशा में विकास मत कर। बाहर में कहीं भी विकास करने जैसा नहीं है। जितना तू बाहर जायेगा, उतना तू तेरे अंतःतत्त्व से दूर जायेगा। वह तुझे बाधकपना है। और अन्दर आये उतना ही तेरा साधकपना है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई लंबी-चौड़ी बात नहीं है। जितना विस्तार किया है वह, यह बात कहने के लिये है कि बाहर जाने जैसा नहीं है। (४५:४५ मिनट तक)

(प्रवचन का शेष अंश अगले अंकमें...)

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. ११-C



मुमुक्षु :- (नियमसार के) १७७ नंबर के श्लोक में (कहा है), जो सहज परमतत्त्व मुनि को मनसे और वाणीसे दूर है। उसमें गुरुदेवने मन का अर्थ किया कि मन के विकल्पोंसे और वाणीसे दूर है, ऐसा कहा। बाद में ऐसा फरमाया कि अनुभव से और पर्यायसे भी दूर है। उसमें पहले ३८वीं गाथा के ५४ श्लोक में कहा है कि जो नाश होने योग्य ऐसे भावोंसे दूर है। उसमें गुरुदेवने ऐसा कहा कि विकारसे अति दूर है, संवर, निर्जरा, मोक्षसे दूर है। आपने भी पण्डितजी परके पत्र में लिखा था कि सम्यग्दर्शन थोड़ा दूर है। तब पण्डितजीने कहा कि, बिता जितना दूर है? ऐसा उन्होंने कहा। फिर लौकिक में भी कोई कार्य नहीं होता हो तो कहे कि दिल्ली बहुत दूर है। हमको भी ऐसा लगता है कि इसमें बहुत पुरुषार्थ चाहिये। मानों लाखों योजन सम्यग्दर्शन दूर है। फिर हार्ट एटेक आया उस वक्त ऐसा कहते है कि मौत से थोड़ा दूर रह गये। मौत से थोड़े दूर रह गये। तो ऐसे सब शास्त्र में दूर, गुरुदेव के प्रवचन में अति दूर, आपने भी दूर कहा तो इन सबका कार्य क्षेत्र अपेक्षासे या अन्य अपेक्षासे है? कृपा करके समझाईये। कार्य अपेक्षासे दूर या कार्य अपेक्षासे दूर है?

समाधान :- पर्याय दूर है वह तो अपेक्षासे कहा है। मनसे, वाणीसे दूर है। मन तो विकल्पात्मक है और वाणी भी विकल्पात्मक है, परन्तु अंतर की पर्यायसे दूर यानी पर्याय तो एक अंश है, पर्याय तो पलटती है इसलिये दूर कहा है। परमात्म तत्त्व मनसे, वाणीसे दूर और पर्यायसे दूर यानी कि पर्याय तो पलटती रहती है। द्रव्य तो वैसा ही शाश्वत रहता है, इसलिये दूर है। परन्तु उसका अनुभव तो उसे होता है। इसलिये उस अपेक्षासे पर्याय तो स्वयं की है। स्वानुभूति की पर्याय खुद की है इसलिये उसका अनुभव उसे होता है। वह पर्याय तो उसके आश्रयसे होती है। इसलिये द्रव्य और पर्याय वैसे भिन्न नहीं है। उसका वेदन उसे होता है।

दूर है अर्थात् पूर्ण शाश्वत द्रव्य है, उस शाश्वत द्रव्य की अपेक्षासे पर्याय को दूर कहा है। दूर कहा इसका मतलब उसका क्षेत्र दूर है ऐसा कहने का आशय नहीं है। उसका क्षेत्र दूर, भाव की अपेक्षासे दूर, उसके स्वभाव की अपेक्षासे दूर यानी उसका आरोप करके क्षेत्रसे दूर कहा जाता है, परन्तु वास्तविक रूपसे, जैसे दो द्रव्य का क्षेत्र भिन्न है वैसे भिन्न है, ऐसे दूर नहीं कहा है।

परमात्म तत्त्व दूर है। पर्यायसे दूर यानी उसकी अनुभूति तो होती है। लेकिन तू एक पर्याय में अटक गया हो, एक वर्तमान पर्याय में, तो उस पर्याय जितना आत्मा नहीं है। आत्मा तो उससे दूर है यानी वह तो शाश्वत अनादिअनन्त अनन्त गंभीरतासे भरा आत्मा है। एक आत्माके आश्रयसे अनन्ती पर्यायें होती हैं। इसलिये आत्मा उससे दूर है, इस अपेक्षासे कहा है। वास्तविकरूपसे उसका क्षेत्र अत्यंत दूर है ऐसा उसमें कहने का आशय नहीं है। परमात्म तत्त्व तो उससे दूर

है। उसकी स्वानुभूति का वेदन स्वयं को होता है। स्वानुभूति की पर्याय पलटती है इसलिये दूर कहा है।

बाकी दूसरा सब कहते हैं वह सब अलग है। अभी सम्यग्दर्शन दूर है, एक हाथ जितना दूर है, वह सब दूसरी अपेक्षासे कहा है, पर्याय की अपेक्षा अलग है। मनसे, वाणीसे दूर (कहा तो) मन और वाणी तो जड़ है। उसे भावमन की अपेक्षासे कहो तो भी वह सब पर्यायें क्षयोपशमभाव है। इसलिये पर्याय अपेक्षासे कह सकते हैं। पर्याय की अपेक्षासे द्रव्य दूर कहा है वह भाव अपेक्षासे (कहा है)। क्षेत्र अपेक्षासे भी भाव का आरोप करके कहते हैं, बाकी वास्तविक दूर है, दो द्रव्य के क्षेत्र भिन्न है जैसे नहीं है। पहलेवाली बात अलग है। दूर यानी कितने ही कहते हैं अभी सम्यग्दर्शन कितनी दूर है? स्वयं को अनुभव में आता नहीं है, उसको स्वयं को ख्याल में आता नहीं है इसलिये उसे दूर भासता है। बाकी आत्मा तो स्वयं ही है, स्वयं खुदसे दूर नहीं है। यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो स्वयंसे समीप ही है, वह दूर नहीं है। परन्तु उसे प्रगट नहीं हुआ है इसलिये दूर लगता है।

इतना दूर, इतना दूर (कहा) वह तो भावना के ज़ोरमें कहती थी, उसका कोई माप नहीं है। भावों की उग्रता के कारण कहा जाता था। भावना का, पुरुषार्थ का बल उस प्रकार का अन्दरसे आता था, इसलिये (कहती थी), इतना दूर है, अब इतना दूर है। वह तो पुरुषार्थ के ज़ोर में, भावना के ज़ोर में कहा जाता था। अन्दर उसका कोई माप थोड़ा ही है। वह तो पुरुषार्थ के बल में कहती थी। दूसरा दूर कहते हैं, वेदना हो वह दूर वह सब दूसरी बात है। वह बात अलग है।

मुमुक्षु :- वह तो परद्रव्य की बात है।

समाधान :- वह परद्रव्य की बात है। वह तो अपेक्षासे स्वयं अपने भाव से कहते हैं। ये अपेक्षा-पर्याय और द्रव्य की अपेक्षा अलग है। वह तो भावना में कहा जाता है, इतना दूर, इतना दूर है। और कितनों को कुछ होता नहीं हो, पुरुषार्थ चलता नहीं हो तो मानों सम्यग्दर्शन कितना दूर पड़ा है, ऐसा उसे लगता है। वह तो उसे कुछ होता नहीं है इसलिये वैसा लगता है।

दोडत दोडत दोडत दोडियो जेथी मननी दोड,

प्रेम प्रतीत विचारों दूंकडी, गुरुगम लेजो रे जोड..

वह तो समीप ही है। दूर नहीं है। परन्तु दोडत दोडत दोडियो, जितना भाग सके उतना बाहर दोड़ा। इसलिये दूर-दूर लगता है। दूर नहीं है, स्वयंसे समीप ही है, स्वयं ही है, दूर नहीं है। समीप ही है।

मुमुक्षु :- बाहर दौड़ता रहता है इसलिये उसे दूर..?

समाधान :- इसलिये दूर लगता है। मन बाहर दौड़ता है। (दौड़कर) बाहर देखने जाता है। बाहरसे मानो मिलता है। बाहरसे नहीं मिलता है, अन्दर ही है, तू स्वयं ही है।

मुमुक्षु :- जहाँ जो अपेक्षा हो वहाँ..

समाधान :- वहाँ वह अपेक्षा समझनी होती है।

मुमुक्षु :- ऐसे तो बहुत प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उसका समाधान गुरुसे प्राप्त भी हो, फिर भी पुरुषार्थ नहीं करता।

समाधान :- समाधान गुरुसे मिले, परन्तु पुरुषार्थ स्वयं को करना बाकी रहता है। स्वतन्त्र द्रव्य है, कोई कर नहीं देता।

मुमुक्षु :- तो ये जो प्रश्न करता है उसमें कोई मायाचारी है?

समाधान :- मायाचारी तो नहीं है, परन्तु उसको पुरुषार्थ उत्पन्न नहीं हो रहा है, इसलिये प्रश्न उत्पन्न होता है। ऐसा पूछो तो कुछ समाधान हो, ऐसा कुछ करूँ तो हो, लेकिन उसे (पुरुषार्थ) उत्पन्न नहीं होता है इसलिये प्रश्न उत्पन्न होते रहते हैं। जानने की इच्छा होती रहती है, ऐसा जाननेसे कुछ समाधान हो। परन्तु अन्दर करना तो स्वयं को ही है। कोई नहीं कर देता है। गुरु नहीं कर देते, भगवान नहीं कर देते, करना तो स्वयं को है। भगवान तारणहार कहलाते हैं। भगवान की वाणी छूटी। कितनों को तारे ऐसी उनकी वाणी होती है। तो भी जो पुरुषार्थ करता है वह तिरता है। उनकी वाणीमें ज़ोरदार निमित्त है। जो पुरुषार्थ करता है वह तिरता है। 'गुरुदेव' की वाणी ज़ोरदार थी। जो पुरुषार्थ करे वह तिरता है।

मुमुक्षु :- माताजी! 'गुरुदेव' के वचनामृतमेंसे एक प्रश्न है। सब सिद्धान्त का सार में सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख होना वह है। आगे कहते हैं कि ज्ञानी के एक वचन में अनन्ती गंभीरता भरी है। अनन्ती गंभीरता। गंभीरता और अनन्ती, वह किसप्रकार है?

समाधान :- चारों पहलुओंसे रहस्य कहना होता है। एक वचन में गंभीरता है। एक में आत्मा का स्वरूप, मोक्ष का मार्ग, द्रव्य और पर्याय का स्वरूप, कितनी ही अपेक्षाएँ कहनी होती हैं, वह सब, एक बात करे उसके पीछे गहरा आशय है। अनन्ती गंभीरता (है)। आत्मा अनन्त गंभीरतासे भरा है। वह गंभीरतासे भरा हुआ है, इसलिये उसे कहने का जो वचन आता है, उस वचन में भी गंभीरता है।

मुमुक्षु :- विषय का वाचक..

समाधान :- उसमें भी गंभीरता है। जो स्वयंने जाना है और जानकर जो वचन आता है, उस वचन में भी गंभीरता है। स्वयं एक पहलू से समझ ले, ऐसा नहीं होता। उसमें गंभीरता होती है। चारों ओरसे कहना होता है। अनन्त रहस्य भरा है।

मुमुक्षु :- यहाँ जो कहा, माताजी! बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुख होना। समस्त सिद्धान्त का सारांश यह है।

समाधान :- तेरा उपयोग बहिर्मुख है, बहिर्मुखतासे अंतर्मुख हो जा। समस्त सिद्धान्त का सार है। तू अंतर में चला जा, बस, यही कहना है। तेरी दृष्टि बाहर, तेरा उपयोग बाहर, सब बाहर ही बाहर है। वह बाहर का छोड़कर अंतर में चला जा। अंतर्मुख हो जा। आत्मा को ग्रहण करके तू अन्तर में चला जा, ऐसा कहना है। आत्मा को ग्रहण कर, आत्मा की श्रद्धा कर, आत्मा का ज्ञान कर, आत्मा में लीनता कर। स्व की ओर चला जा। तेरी दृष्टि पर ओर है, इसलिये तेरी दिशा बाहर है। सब बाहर आता है। एक अंतर में चला जा, अंतर्मुख हो जा तो उसमें सब अंतर में हो जायेगा। सर्व गुणांश वह सम्यग्दर्शन। सभी गुणों का अंश उसमें प्रगट होता है। एक दृष्टि स्वकी ओर गयी, सम्यग्दर्शन हुआ तो सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व, सभी गुणों के अंश अमुक प्रकारसे प्रगट हो जाते हैं। सब अंतर्मुख हो जाता है। तेरी ओर चला जा, अंतर्मुख (हो जा), सिद्धान्त का सार यही है। बाहर का सब छोड़ दे, अंतर में चला जा।

तेरा जानना आत्मा में, तुझे श्रद्धा करनी आत्मा में, तुझे लीनता करनी आत्मा में, सब आत्मा में, तुझे आश्चर्यचकित होना आत्मा में, सब आत्मा में। सब कार्य तुझे आत्मा में करने हैं, बाहर का सब छोड़ दे।

मुमुक्षु :- वह एक ही कठिन लगता है।

समाधान :- संक्षिप्त में कहा जाता है, परन्तु वही उसे कठिन हो गया है, बाहर ही चला गया है इसलिये।

मुमुक्षु :- सर्व गुणांश सम्यक्त्व, उसमें प्रदेशत्व गुण में क्या लेना?

समाधान :- जो होने योग्य होते हैं वह सभी गुण अपनी ओर आ जाते हैं। वह सब प्रश्न तार्किक हैं।

(श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित पत्र...)

है, इस स्थितिमें सविस्तर और संतोषरूप आप दोनोंके पत्रोंका उत्तर कैसे लिखना, इसे आप कहें। धर्मजके सविस्तर पत्रकी किसी-किसी बातके विषयमें सविस्तर लिखता, परंतु चित्त लिखनेमें नहीं रहता, इसलिये लिखा नहीं है।

त्रिभुवनादिककी इच्छाके अनुसार आणंदमें समागमका योग हो ऐसा करनेकी इच्छा है; और तब उस पत्रसम्बन्धी कुछ पूछना हो तो पूछीये।

धर्मजमें जिनका निवास है उन मुमुक्षुओंकी दशा और प्रथा आपको स्मरणमें रखने योग्य है, अनुसरण करने योग्य है।

मगनलाल और त्रिभुवनके पिताजी कैसी प्रवृत्तिमें हैं, सो लिखें। यह पत्र लिखते हुए सूझनेसे लिखा है।

आप सब परमार्थ विषयक कैसी प्रवृत्तिमें रहते हैं, सो लिखियेगा।

आप हमारे वचनादिकी इच्छासे पत्रकी राह देखते होंगे, परंतु उपर्युक्त कारणोंको पढ़कर ऐसा समझें कि आपने बहुतसे पत्र पढ़े हैं।

किसी एक न बताये हुए प्रसंगके विषयमें सविस्तर पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पड़ा है। उस प्रसंगको गांभीर्यवशात् इतने वर्ष तक हृदयमें ही रखा है। अब चाहते हैं कि उसे कहें, तथापि आपकी सत्संगतिका अवसर आनेपर कहें तो कहें। लिखना सम्भव नहीं लगता।

एक समय भी विरह न हो, इस तरह सत्संगमें ही रहना चाहते हैं। परंतु यह तो हरीच्छावश है।

कलियुगमें सत्संगकी परम हानि हो गयी है। अंधकार व्याप्त है। और सत्संगकी अपूर्वताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता।

२८७

ववाणिया, आसोज वदी १, रवि, १९४७

पूर्वापर अविरुद्ध भगवत्सम्बन्धी ज्ञानको प्रगट करनेके लिये जब तक उसकी इच्छा नहीं हैं, तब तक किसीसे अधिक प्रसंग करनेमें नहीं आता, इसे आप जानते हैं।

जब तक हम अपनेमें अभिन्नरूप हरिपदको नहीं मानते तब तक प्रगट मार्ग नहीं कहेंगे। आप भी जो हमें जानते हैं, उनके सिवाय आप नाम, स्थान और गाँवसे हमें अधिक व्यक्तियोंसे परिचित न कीजियेगा।

एकसे अनन्त है, और जो अन्नत है वह एक है।

२८८

ववाणिया, आसोज वदी ५, १९४७

आदिपुरुष लीला शरु करके बैठा है।

एक आत्मवृत्तिके सिवाय हमारे लिये नया पूराना तो कहाँ है? और उसे लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है? नहीं तो सब कुछ नया ही है, और सब कुछ पुराना ही है।

२८९

ववाणिया, आसोज वदी १०, सोम, १९४७

परमार्थके विषयमें मनुष्योंका पत्रव्यवहार अधिक रहता है, और हमें वह अनुकूल नहीं आता। जिससे बहुतसे उत्तर तो लिखनेमें ही नहीं आते; ऐसी हरीच्छा है; और हमें यह बात प्रिय भी है।

२९०

ववाणिया, आसोज वदी १०, सोम, १९४७

एक दशासे प्रवृत्ति है, और यह दशा अभी बहुत समय तक रहेगी। तब तक उदयानुसार प्रवर्तन योग्य माना है। इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्रादिकी पहुँच मिलनेमें विलंब हो जाये अथवा न भेजी जाये, अथवा कुछ न लिखा जा सके तो वह शोचनीय नहीं है, ऐसा निश्चय करके यहाँका पत्रप्रसंग रखिये।

२९१

ववाणिया, आसोज वदी १२, गुरु, १९४७

ॐ

पूर्णकाम चित्तको नमोनमः

आत्मा ब्रह्मसमाधिमें है। मन वनमें है। एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती

